ISSN 2277 - 7865
मूल्य ५०.०० रुपये
वर्ष : ३६
अंक : ०५
अगस्त २०१२

तित्थयर

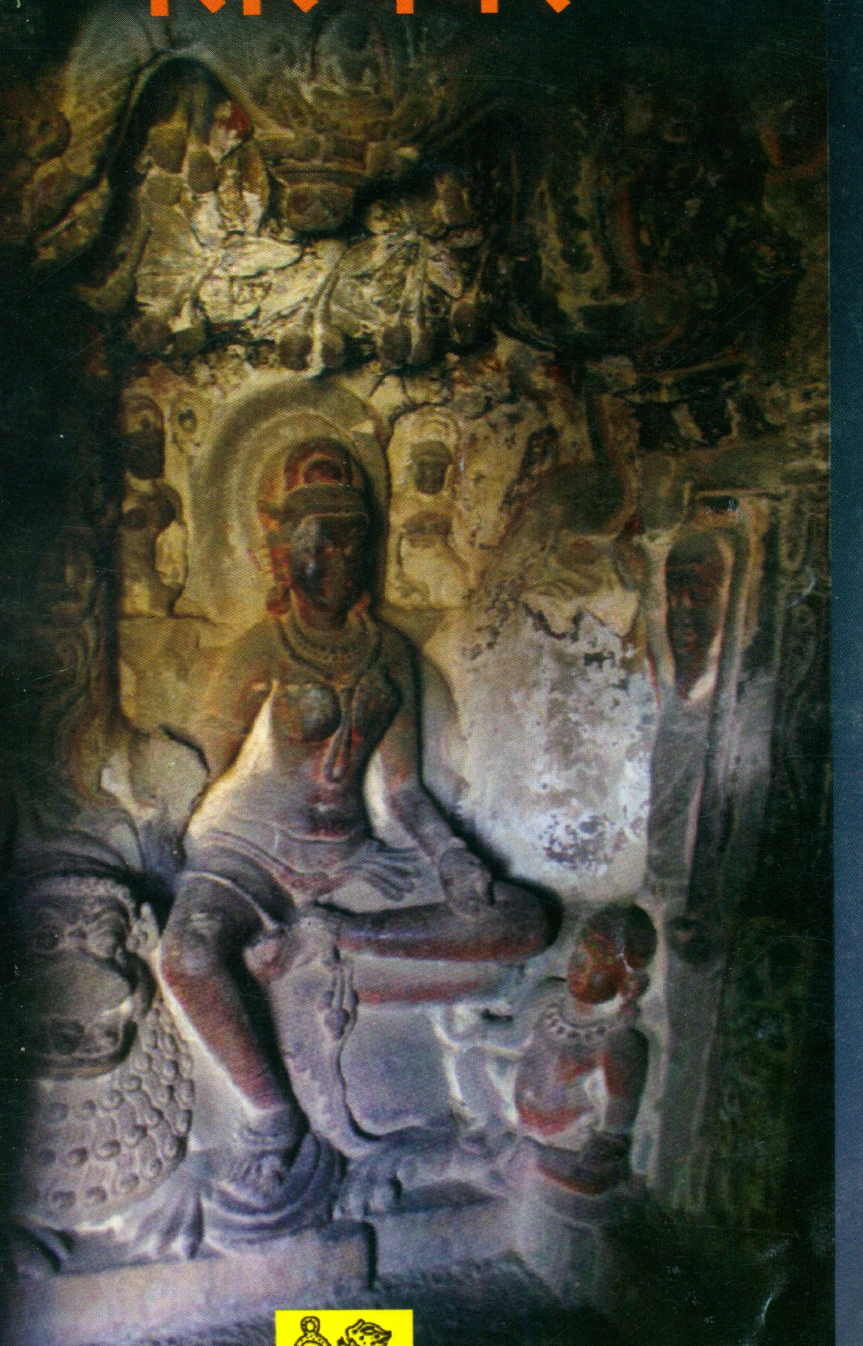

॥ जैन भवन ॥

शुभ कामनाओं सहित —

मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय,
कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र होता है।

Suvigya & Saurabh Boyed

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्रिका

वर्ष - ३६ अंक - ०५ अगस्त २०१२

लेख, पुस्तक समीक्षा तथा पत्रिका से सम्बन्धित पत्र व्यवहार के लिय
पता - Editor : Titthayar, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007
Phone : (033) 2268-2655, 2272-9028,
Email : jainbhawan@bsnl.in, jainbhawan@rediffmail.com

विज्ञापन तथा सदस्यता के लिये कृपया सम्पर्क करें --
Secretary, Jain Bhawan, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007
Life Membership : India : Rs. 5000.00. Yearly : 500.00
Foreign : $ 500

Published by Dr. Lata Bothra on behalf of Jain Bhawan from P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone : 2268-2655 and printed by her at Arunima Printing Works, 81, Simla Street Kolkata - 700 007 Phone : 2241-1006

संपादन
डॉ. लता बोथरा

अनुक्रमणिका

क्र. सं. लेख	लेखक	पृ. सं.
१. उपांगसाहित्य : एक विश्लेषणात्मक विवेचन	प्रो. सागरमल जैन	१४९
२. जैशलमेर के कलापूर्ण मन्दिर	भँवरलाल नाहटा	१५९
३. कुवलय माला		१६८

ISSN 2277 - 7865

कवरपृष्ठ : एलोरा की गुफा में उत्कीर्ण देवी अम्बिका की मूर्ति।

Composed by:

Jain Bhawan Computer Centre, P-25, Kalakar Street Kolkata - 700 007

उपांगसाहित्य : एक विश्लेषणात्मक विवेचन

प्रो. सागरमल जैन

उपांग साहित्य का सामान्य स्वरूप :

जैन आगम साहित्य के वर्गीकरण की प्राचीन पद्धति के अनुसार आगमों को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जाता है– 1. अंगप्रविष्ठ और 2. अंगबाह्य।

जहाँ प्राचीनकाल में अंग बाह्यों का वर्गीकरण आवश्यक और आवश्यकव्यक्तिरिक्त इन दो भागों में किया जाता था और आवश्यकव्यक्तिरिक्त को पुनः कालिक और उत्कालिक रूप में वर्गीकृत किया जाता था, जबकि वर्तमान काल में अंग बाह्य ग्रन्थों को– 1. उपांग, 2. छेदसूत्र, 3. मूलसूत्र, 4. प्रकीर्णकसूत्र और 5. चूलिकासूत्र- ऐसे पाँच भागों में विभक्त किया जाता है। वर्तमान में उपांग वर्ग के अर्न्तगत निम्न बारह आगम माने जाते हैं–

1. औपपातिकसूत्र, 2. राजप्रश्नीयसूत्र, 3. जीवाजीवाभिगमसूत्र, 4. प्रज्ञापनासूत्र, 5. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, 6. चन्द्रप्रज्ञप्ति, 7. सूर्य प्रज्ञप्ति, 8. कल्पिका, 9. कल्पावंतसिका, 10. पुष्पिका, 11. पुष्पचूलिका और 12. वृष्णिदशा।

ज्ञातव्य है कि इन बारह उपांगों में अन्तिम पाँच कल्पिका से लेकर वृष्णिदशा तक का संयुक्त नाम निरयावलिका भी मिलता है। आगमों के वर्गीकरण की जो प्राचीन शैली है, वह हमें नंदीसूत्र में उपलब्ध होती है, जबकि आगमों के वर्तमान वर्गीकरण की जो शैली है, वह लगभग 14वीं शताब्दी के बाद की हैं। वर्तमान में अंगबाह्यों के जो पाँच वर्ग बताए गए हैं, इन वर्गों के नाम के उल्लेख तो जिनप्रभ के

विधिमार्ग प्रपा में नहीं हैं, किन्तु उसमें प्रत्येक वर्ग के आगमों के नाम एक साथ पाए जाने से यह अनुमान किया जा सकता है, कि उपांग, छेद, मूल, प्रकीर्णक, चूलिका आदि के रूप में नवीन वर्गीकरण की यह शैली लगभग 14वीं शताब्दी में अस्तित्व में आई होगी।

जहाँ तक उपांग शब्द के प्रयोग का प्रश्न हैं, वह सर्वप्रथम हमें उपांग वर्ग के ही कल्पिका आदि पाँच ग्रन्थों के लिए मिलता है। उसमें कल्पावंतसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, और वृष्णिदशा में उपांग (उवंग) शब्द का प्रयोग हुआ है। नवें उपांग कल्पावंतसिका के प्रारम्भ में '**उवंगाणं पढमस्स वग्गस्स**' ऐसा स्पष्ट उल्लेख हैं। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि सर्वप्रथम उपांग वर्ग के अन्तिम पाँच ग्रन्थों, जिनका सम्मिलित नाम निरयावलिका है, को उपांग नाम से अभिहित किया जाता रहा होगा। नन्दीसूत्र के रचना काल (पाँचवीं शतीं) तक कल्पिका से लेकर वृष्णिदशा तक के इन पाँच ग्रन्थों को उपांग संज्ञा प्राप्त थी। यदि हम यह माने कि आगमों की अन्तिम वाचना वीर निर्वाण के 980 वर्ष पश्चात् लगभग विक्रम की 5वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई तो हमें इतना तो स्वीकार करना पड़ेगा कि उपांग वर्ग के निरयावलिका के अर्न्तभूत कल्पिका से लेकर वृष्णिदशा तक के पाँच ग्रन्थों को विक्रम की 5वीं शताब्दी में उपांग संज्ञा प्राप्त थी। चाहे बारह उपांगों की अवधारणा परवर्तीकालीन हो, किन्तु वीर निर्वाण संवत् 980 या 993 में वल्लभीवाचना के समय निरयावलिका के पाँचों वर्गों को उपांग नाम से अभिहित किया जाता था। सम्भवतः पहले निरयावलिका श्रुतस्कन्ध के कल्पिका, कल्पावंतसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा को उपांग कहा जाता था, किन्तु जब बारह अंगों के आधार पर उनके बारह उपांगों की कल्पना की गई तब निरयावलिका के इन पाँच वर्गों को पाँच स्वतंत्र ग्रन्थ मानकर और उसमें निम्न सात ग्रन्थों यथा— 1. औपपातिक, 2. राजप्रश्नीयसूत्र, 3. जीवजीवाभिगम,

4. प्रज्ञाप्नासूत्र, 5. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, 6. चन्द्रप्रज्ञप्ति और 7. सूर्यप्रज्ञप्ति को जोड़कर बारह अंगों के बारह उपांगों की कल्पना की गई और इस आधार पर यह माना गया कि क्रमशः प्रत्येक अंग का एक-एक उपांग हैं जैसे— आचारांग का उपांग औपपातिकसूत्र है, सूत्रकृतांग का उपांग राजप्रश्नीय है, स्थानांग का उपांग जीव जीवाभिगम है, समवायांग का उपांग प्रज्ञापना है, भगवती का उपांग चन्द्रप्रज्ञप्ति है, इसी प्रकार आगे ज्ञाताधर्मकथा का उपांग जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति है और उपासकदशा का उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति है। अन्तकृतदशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरणदशा, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद के उपांग निरयावलिका के पाँच वर्ग, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध है। जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है, उसमें भी बारहवें अंग दृष्टिवाद के पाँच विभाग किये गए है। उसके परिकर्म विभाग के अन्तर्गत चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार उपांग साहित्य के ये ग्रन्थ प्राचीन ही सिद्ध होते है। यद्यपि द्वीपसागरप्रज्ञप्ति का उल्लेख स्थानांगसूत्र और दिगम्बर परम्परा में दृष्टिवाद के परिकर्म विभाग में मिलता है, किन्तु उसे उपांग में अन्तर्गत नहीं किया गया है। यद्यपि नन्दीसूत्र में अंग बाह्य ग्रन्थों के कालिक और उत्कालिक का जो भेद है, उसमें भी कालिक वर्ग के अन्तर्गत द्वीपसागरप्रज्ञप्ति का उल्लेख मिलता है। किन्तु नन्दीसूत्र के वर्गीकरण की यह एक विशेषता हैं कि उपांगों में वह जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति को कालिक वर्ग के अन्तर्गत रखता है और सूर्यप्रज्ञप्ति को उत्कालिक वर्ग के अन्तर्गत रखता है। जहाँ तक उपांगों के रूप में मान्य इन बारह ग्रन्थों का प्रश्न हैं इन सबका उल्लेख नन्दीसूत्र के कालिक और उत्कालिक वर्ग में मिल जाता है। उत्कालिक वर्ग के अन्तर्गत औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना और सूर्यप्रज्ञप्ति ऐसे पाँच ग्रन्थों का उल्लेख

हैं जबकि कालिक वर्ग के अन्तर्गत जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निरयावलिका, कल्पिका, कल्पावंतसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा का उल्लेख हैं। इस संदर्भ में विशेष रूप से दो बातें विचारणीय है— प्रथम तो यह कि इसमें निरयावलिका को तथा कल्पिका आदि पाँच ग्रन्थों को अलग-अलग माना गया है, जबकि वे निरयावलिका के ही विभाग है। इसी प्रकार चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति को दो अलग-अलग ग्रन्थ मानकर दो अलग-अलग वर्गों में वर्गीकृत किया है, जबकि उनकी विषय–वस्तु और मूलपाठ दोनों में समानता हैं। ऐसा क्यों हुआ इसका स्पष्ट उत्तर तो हमारे पास नहीं है, किन्तु ऐसा लगता है कि सूर्यप्रज्ञप्ति को ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थों के साथ अलग कर दिया गया और चन्द्रप्रज्ञप्ति को लोक स्वरूप विवेचन ग्रन्थों जैसे— द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के साथ रखा गया। वास्तविकता चाहे जो भी रही हो किन्तु इतना निश्चित है कि उपांग वर्ग के अन्तर्गत जो बारह ग्रन्थ माने जाते हैं। उन सबका उल्लेख नंदीसूत्र के वर्गीकरण में उपलब्ध हैं।

उपांग साहित्य का रचनाकाल :

उपांग साहित्य के सभी ग्रन्थों का नन्दीसूत्र में उल्लेख होने से यह सिद्ध होता है कि उपांगों के रचनाकाल की अन्तिम कालावधि वीर निर्वाण संवत् 980 या 993 के आगे नहीं जा सकती। इस सम्बन्ध में विचारणीय यह हैं कि तत्त्वार्थसूत्र की स्वोपज्ञटीका में अंगबाह्य ग्रन्थों के जो नाम मिलता है, उनमें उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित के नाम तो मिलते हैं किन्तु इसमें उपांगवर्ग के एक भी ग्रन्थ का नामोल्लेख नहीं हैं, इस कारण विद्वत् वर्ग की यह मान्यता हैं कि उपांग साहित्य के रचना की पूर्वावधि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी और उत्तरावधि ईसा की पांचवीं शताब्दी के मध्य रही है। उपांग वर्ग के अन्तर्गत प्रज्ञापनासूत्र के रचयिता आर्यश्याम

को माना जाता है। आर्यश्याम निश्चित् रूप में उमास्वाति से पूर्ववर्ती है। पट्टावलियों के अनुसार इनका काल ईस्वीपूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दी माना गया है। ये वीर निर्वाण संवत् 376 तक युगप्रधान रहे हैं। ऐसी स्थिति में उपांग साहित्य के सब नहीं तो कम से कम कुछ ग्रन्थों का रचनाकाल ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी माना जा सकता हैं किन्तु विषय-वस्तु आदि की अपेक्षा से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि उपांग साहित्य के कुछ ग्रन्थों की कुछ विषय वस्तु तो इससे भी पूर्व की है। उपांग साहित्य में निरयावलिका के कल्पिका वर्ग की विषय वस्तु में राजा बिम्बिसार श्रेणिक और उसके अन्य परिजनों का विस्तृत विवरण हैं, जो भगवान महावीर के समकालिक रहे हैं, चाहे उस विवरण को ग्रन्थ रूप में निबद्ध कुछ काल पश्चात् किया गया हो। कुणिक-अजातशत्रु और वैशाली गणराज्य के अधिपति चेटक के मध्य हुए रथमूसल संग्राम का उल्लेख भगवतीसूत्र में उपलब्ध होता है, इससे भी उपांग साहित्य की प्राचीनता सिद्ध होती है। इसी प्रकार सामान्यतया विषय-वस्तु की अपेक्षा हम उपांग साहित्य को ईसा पूर्व पांचवी शताब्दी से लेकर ईसा की चतुर्थ शताब्दी के मध्यकाल तक में निर्मित मान सकते हैं। यद्यपि स्पष्ट निर्देश के आधार पर उपांग साहित्य में प्रज्ञापनासूत्र को ही प्राचीनतम माना जा सकता है, किन्तु विषय वस्तु आदि की दृष्टि से विचार करने पर उसके अन्य ग्रन्थांश भी प्राचीन सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ राजप्रश्नीयसूत्र का राजा प्रसेनजित और आचार्य केशी के मध्य हुए संलाप का भाग भी अधिक प्राचीन सिद्ध होता है, क्योंकि बौद्ध परम्परा में पयासीसुत्त में भी यह संवाद उल्लेखित है मात्र नाम का कुछ अन्तर हैं। बौद्ध परम्परा में भी पयासीसुत्त को प्राचीन माना गया है। इस अपेक्षा से राजप्रश्नीय का कुछ अंग अति प्राचीन है, किन्तु राजप्रश्नीय के सूर्याभदेव से सम्बन्धित भाग में जिनप्रसाद का जो स्वरूप वर्णित है तथा नाट्यविधि आदि सम्बन्धी जो

उल्लेख है, वे विद्वानों की दृष्टि में ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी से पूर्ववर्ती नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उसमें जिनप्रसाद के जिन शिल्प का विवेचन किया है, पुरातात्त्विक दृष्टि से वह शिल्प पूर्व गुप्तकाल या गुप्तकाल में ही पाया जाता हैं। इसी प्रकार औपपातिकसूत्र में जो विभिन्न प्रकार के तापसो एवं परिव्राजकों आदि का जो उल्लेख मिलता है, वह महावीर के समकालीन ही है, किन्तु उसमें भी परिव्राजकों की कुछ शाखाएँ परवर्तीकालीन भी हैं। इसी प्रकार चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति में ज्योतिष–ग्रहों की गति सम्बन्धी जिस पद्धति का विवेचन किया गया है वह आर्यभट्ट और वराहमिहिर से बहुत प्राचीन है। उसकी निकटता वेदकालीन ज्योतिष से अधिक हैं। पुनः उसमें नक्षत्र भोजन आदि को लेकर जो मान्यताएँ प्रस्तुत की गई है, उनका भी जैन धर्म के गुप्तकालीन विकसित स्वरूप से विरोध आता है। वे मान्यताएँ भी प्राचीन स्तर के आगमों की मान्यताओं के अधिक निकट हैं। अतः सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति का काल निश्चित ही प्राचीन है। आचार्य भद्रबाहु (आर्य भद्र) ने जिन दस निर्युक्तियों की रचना करने का निश्चय प्रकट किया है, उसमें सूर्यप्रज्ञप्ति की निर्युक्ति भी हैं।

मेरी दृष्टि में निर्युक्तियों का रचनाकाल ईसा की दूसरी शताब्दी से परवर्ती नहीं है, अतः सूर्यप्रज्ञप्ति का अस्तित्व उससे तो प्राचीन ही सिद्ध होता है। इसी क्रम में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को भी बहुत अधिक परवर्तीकालीन नहीं माना जा सकता है। इसी क्रम में निरयावलिका के अन्तर्भूत पाँच ग्रन्थों का रचनाकाल भी ईसा पूर्व की दूसरी–तीसरी से परवर्ती नहीं है, इसी प्रकार उपांग साहित्य में उल्लेखित कोई भी ग्रन्थ ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी से परवर्ती सिद्ध नहीं होता है। उपांग साहित्य में प्रज्ञापना जैसे गंभीर ग्रन्थ में भी लगभग चौथी-पांचवी शती में विकसित गुणस्थान सिद्धान्त का उल्लेख नहीं होना भी यही सिद्ध करता हैं कि उपांग साहित्य ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी से पूर्व की

रचना है। अंगबाह्य ग्रन्थों के रचयिता पूर्वधर आचार्य माने जाते हैं। पूर्वधरों का अन्तिम काल भी ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से परवर्ती नहीं है अतः इस दृष्टि से भी उपांग साहित्य को ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी से पूर्व की रचना मानना होगा।

उपांग साहित्य की विषय-वस्तु :

उपांग साहित्य में प्रज्ञापना तथा जीवाजीवाभिगम और चंद्रप्रज्ञप्ति तथा सूर्यप्रज्ञप्ति के अतिरिक्त शेष सभी ग्रन्थ कथा परक ही है। जहाँ जीवाजीवाभिगम और प्रज्ञापना की विषय वस्तु दार्शनिक है, वहीं चन्द्रप्रज्ञप्ति का सम्बन्ध ज्योतिष से हैं। जम्बूद्वीप का कुछ अंश भूगोल तथा कालचक्र से सम्बन्धित है, वहीं शेष अंश कथा परक ही है। औपपातिक सूत्र में चम्पानगरी के विस्तृत विवेचन से साथ-साथ विभिन्न प्रकार का श्रावकों, तापसों एवं परिव्राजकों के उल्लेख मिलते है। इन संन्यासियों में गंगातट निवासी, वानप्रस्थ तापसों, विभिन्न प्रकार के आजीवक शाक्य आदि श्रमणों, ब्राह्मण परिव्राजकों, क्षत्रिय परिव्राजकों आदि के उल्लेख है। इस प्रकार से औपपातिकसूत्र भगवान महावीर के समकालीन श्रमणों, तापसों और परिव्राजकों तथा उनकी तपविधि का विस्तार से उल्लेख करता है। इसमें मुख्य कथा अबंड परिव्राजक की है। इस कथा में यह बताया गया है कि अंबड नामक परिव्राजक अन्तिम समय में संलेखना पूर्वक समाधिमरण को प्राप्त कर ब्रह्मलोक नामक कल्प में उत्पन्न होगा और वहाँ से च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र में दृढ़प्रतिज्ञ के रूप में उत्पन्न होना लिखा है ज्ञातव्य है कि औपपातिकसूत्र और राजप्रश्नीयसूत्र दोनों में ही दृढ़प्रतिज्ञ के जीवन का जो विवरण उपलब्ध होता है वह लगभग शब्दशः समान है अन्तर मात्र यह है कि जहाँ औपपातिकसूत्र में अंबड परिव्रजक का दृढ़प्रतिज्ञ के रूप में महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होना लिखा है वहीं राजप्रश्नीयसूत्र में राजा प्रसेनजित (पएसि) का सूर्याभदेव के भव

के पश्चात् महाविदेह क्षेत्र में दृढ़प्रतिज्ञ के रूप में उत्पन्न होकर अन्त में मुनिधर्म स्वीकार कर मोक्ष प्राप्त करने का उल्लेख है। औपपतिकसूत्र की विषय वस्तु की विशेषता यहीं है, कि उसमें श्रमणों एवं तापसों के द्वारा किए जाने वाले उन विभिन्न तपों एवं साधनाओं का विस्तार से उल्लेख हुआ है जिनमें से कुछ साधनाएँ तपविधियां और भिक्षा विधियाँ निर्ग्रन्थ परम्परा में भी प्रचलित रही है। औपपातिकसूत्र के अन्त में सिद्ध शिला के विवेचन सम्बन्धी जो गाथाएँ मिलती है, वे उत्तराध्ययन सूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र में भी उपलब्ध होती है, किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र की अपेक्षा औपपातिकसूत्र में सिद्ध शिला आदि का जो विस्तृत विवरण है, उससे यहीं सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन की अपेक्षा औपपातिक सूत्र परवर्तीकालीन है।

उपांगसूत्रों का दूसरा मुख्य ग्रन्थ राजप्रश्नीयसूत्र है। इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम राजा प्रसेनजित और पार्श्वसंतानीय केशी श्रमण का आत्मा के अस्तित्व के संबंध में विस्तृत संवाद हैं। उसके पश्चात् प्रसेनजित के द्वारा संलेखनापूर्वक देह त्याग करके सूर्याभदेव के रूप में उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है फिर सूर्याभदेव के द्वारा भगवान महावीर के समक्ष विविध नाट्यादि प्रस्तुत करने का उल्लेख है। इसी प्रसंग में जिनप्रसाद के स्वरूप का एवं उसके द्वारा की गई जिनपूजा की विधि का भी विवेचन किया गया है। अन्त में जैसा हमने पूर्व में उल्लेख किया सूर्याभदेव द्वारा स्वर्ग की आयु पूर्ण करने के पश्चात् दृढ़प्रतिज्ञ के नाम से महाविदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करने का उल्लेख है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि औपपातिकसूत्र और राजप्रश्नीयसूत्र दोनों में दृढ़प्रतिज्ञ के प्रसंग में गृहस्थ जीवन सम्बन्धी लगभग सभी संस्कारों का उल्लेख भी पाया जाता है। वैदिक परम्परा में मान्य षोडशसंस्कारों में से लगभग पन्द्रह संस्कारों का उल्लेख इसमें उपलब्ध हो जाता है। वस्तुतः श्वेताम्बर परम्परा में वैदिक परम्परा में मान्य गृहस्थों के संस्कारों

का उल्लेख इसमें उपलब्ध हो जाता है। वस्ततः श्वेताम्बर परम्परा में वैदिक परम्परा में मान्य गृहस्थों के संस्कारों का उल्लेख करने वाले-- ये दोनों उपांग इस दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार उपांग साहित्य में प्रथम दो उपांग राजाप्रसेनजित और अबंड परिव्राजक के जीवन की कथाओं को प्रस्तुत करते हैं।

इनके पश्चात् जीवाजीवाभिगम और प्रज्ञापनायें दो उपांग मूलतः जैन धर्म की दार्शनिक मान्यताओं से सम्बन्धित है, जहाँ जीवाजीवाभिगम में जीव और अजीव तत्व के भेद-प्रभेदों की विस्तृत चर्चा है, वहीं प्रज्ञापनासूत्र में छत्तीस पदों में जैन दर्शन के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों जैसे-- इन्द्रिय, संज्ञा, लेश्या, पर्याय, संज्ञा, कर्म--आहार, उपयोग, पश्यता, समुद्घात आदि का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार ये दोनों उपांग मुख्यतः जैन दर्शन से सम्बन्धित है। प्रज्ञापनासूत्र में सर्वप्रथम चक्षुइन्द्रिय और मन को अप्राप्यकारी बताया गया है, जबकि श्रवणेन्द्रिय को बौद्धों के विपरीत प्राप्यकारी वर्ग में रखा गया है। इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व सम्बन्धी यह चर्चा सम्भवतः ईसा की प्रथम शताब्दी में विकसित हुई। इस चर्चा के आधार पर कुछ लोगों का यह भी कहना है, कि प्रज्ञापना का रचनाकाल ईस्वी की प्रथम-द्वितीय शताब्दी से पहले नहीं हो सकता। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि भगवतीसूत्र में स्थान-स्थान पर प्रज्ञापना का संदर्भ दिया गया है। इस आधार पर कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि भगवती का वर्तमान स्वरूप प्रज्ञापना से भी परवर्ती है, किन्तु हमारी दृष्टि में वास्तविकता यह है कि भगवतीसूत्र में विस्तारमय से बचने के लिए वल्लभीवाचना के समय उसे संपादित करते हुए प्रज्ञापना आदि का निर्देश किया गया है।

इसके पश्चात् उपांग साहित्य में सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति का क्रम है, इन दोनों ग्रन्थों की विषय वस्तु लगभग समान है, और

इनका विवेच्य विषय ज्योतिष से सम्बन्धित है। इनमें ग्रह, नक्षत्र, तारा तथा सूर्य–चन्द्र की गति का जो विवेचन मिलता है वह विवेचन वेदकालीन विवेचन से अधिक निकटता रखता है ऐसा लगता है कि जैन आगमसाहित्य में ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थ की परिपूर्ति के लिए इन ग्रन्थों का समावेश उपांग साहित्य में किया गया हैं। छटे उपांग के रूप में हमारे सामने जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का क्रम आता हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का मुख्य विषय तो भूगोल हैं। इसमें जम्बूद्वीप के विभिन्न विभागों तथा खण्डों का तथा भरतक्षेत्र एवं ऐरावत क्षेत्र में होने वाले उत्सर्जित एवं अवसर्पिणी काल का विवेचन है, किन्तु प्रकारान्तर से इसमें भरत चक्रवर्ती और ऋषभदेव के जीवन चरित्र का भी विस्तृत उल्लेख उपलब्ध होता है। सम्भवतः अर्धमागधी आगम साहित्य में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो भरत चक्रवर्ती और ऋषभदेव के जीवनवृत्त का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है।

उपांग साहित्य के अन्तिम पाँच ग्रन्थ कल्पिका, कल्पावंतसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा हैं। इन पाँचों का सामूहिक नाम तो निरयावलिका रहा है और उसके ही पाँच वर्गों के रूप में ही पाँचों का उल्लेख मिलता है। इसके प्रथम् कल्पिका नाम विभाग में चम्पानगरी और राजाकूणिक का विस्तृत जीवनवृत वर्णित है। इसके साथ ही इसमें रथमूसलसंग्राम का विवेचन भी उपलब्ध होता है, जो मूलतः राजा कूणिक और वैशाली की गणाधिपति महाराजा चेटक के बीच हुआ था। इन पाँच ग्रन्थों में प्रथम के चार ग्रन्थों का सम्बन्ध महाराजा श्रेणिक के राज परिवार के साथ ही रहा है, जबकि अन्तिम वृष्णिदशा कृष्ण के यादव कुल से सम्बन्धित है।

इस प्रकार उपांग साहित्य जैन आगम साहित्य का महत्वपूर्ण विभाग है और अपेक्षाकृत प्राचीन है।

जैसलमेर के कलापूर्ण मन्दिर

भँवरलाल नाहटा

जैसलमेर के कलापूर्ण जैन मन्दिर :

आर्यावर्त के चिन्तकों की, विशेषतः जैन तीर्थंकरों की विचारधारा मुख्यतः आत्मलक्षी है। समस्त विश्व के पदार्थों और तत्त्वों का ज्ञान यदि कोई वेदन करता है तो वह केवल आत्मा ही है। इसीलिए वीतराग दर्शन में प्रथम अंग आचारांग में पहला पाठ ही आत्म-स्वरूप जानने का है। '**एगं जाणइ से सव्वं जाणइ**' सिद्धान्त की सिद्धि इसी में सन्निहित है। आत्म दर्पण के निर्मल हो जाने से सभी पदार्थ उसी में झलकते है अतः उसी के प्राकट्य-साक्षात्कार हेतु कला कौशलादि समस्त प्रकार के उत्कर्ष उसी आत्म-धर्म के हेतु समर्पित हुए है। दृष्टि सम्यक् आत्मलक्षी होने से '**आसवा ते परिसवा**' में परिणत हो गई, फलस्वरूप कुटिया-झोपड़ी की साधारण बस्ती में रहने वाली आर्यप्रजा भी अपने मन्दिरों, उपासना गृहों को समृद्ध और सर्वोच्च सम्पन्न बनाने में सतत सचेष्ट रहती थी। इसीलिए विरोधियों द्वारा नष्ट भ्रष्ट कर दिये जाने पर भी उन पूज्य पवित्र स्थानों की चाहे सर्वांगपूर्ण हो या खण्डहर भूमिसात्, आज भी विद्यमानता है। सहस्राब्दि पूर्व के अनेकों जिनालय अविकल या जीर्णोद्धारित जो आज खड़े है उनकी शिल्प शैली के आधारभूत वास्तु-विद्या सम्बन्धी साहित्य जो भी बच पाया है, भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। विस्तृत अध्ययनकर उनपर *प्रकाश डालने की महती आवश्यकता है।*

प्राचीन जैन मन्दिर कांगड़ा से कन्याकुमारी तक तथा राजस्थान-गुजरात से लगाकर अंग-बंग-कलिंग और आसाम पर्यन्त सर्त्र रत्नगर्भा

वसुन्धरा को मण्डित किये पाये जाते हैं। सम्राट सम्प्रति-चन्द्रगुप्त, महामेघवाहन चक्रवर्ती सम्राट खारवेल, सुशर्मचंद्र और परमार्हत् महाराजा कुमारपाल आदि द्वारा निर्मापित और आर्य सुहस्ति, भद्रबाहु स्वामी, वज्रस्वामी आदि पूर्वधरों एवं कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य द्वारा प्रतिष्ठित असंख्य कीर्त्ति कलाप परम्परागत सम्प्राप्त है। मथुरा-कंकालीटीले की अवशिष्ट कला कृतियाँ भारत और विदेशों के संग्रहालयों की प्राणभूत है।

प्राचीन नगरों बस्तियों की भी एक आयु होती है, अतः स्थानान्तरित होने या नवीन बसने पर वे स्थान '**थेह**' हो जाते हैं, उनके ऊपर ओसियाँ, लौद्रपुर आदि की भाँति टीले चढ़ जाते हैं। हरप्पा, मोहन-जो-दरो और राजगृह-नालन्दा में उत्खनन से प्राप्त इमारतें उसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। चन्द्रावती आदि की भाँति उनके पत्थर निकालकर अन्यत्र शिल्पों में लगा दिये जाते हैं। जालोर, मालदा, भरोंच, देवगिरि, जौनपुर, धरापांत, पल्लू आदि की भाँति मस्जिदों और शिवालयादि के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं अतः इस विषय पर गहराई से अध्ययन-चिन्तन आवश्यक है।

यद्यपि बंगाल और दक्षिण भारत की मन्दिर निर्माण शैली और गुजरात राजस्थान की कलाशैली में पर्याप्त पार्थक्य है किन्तु शिल्पियों का आयात निर्यात एक दूसरे के सामंजस्य को स्थापित भी करता रहा है। राजस्थान और गुजरात की शैली तो एक सी ही रही है क्योंकि वहाँ की भाषा संस्कृति और पूर्व पुरुषों का आदि निकास स्थान एक ही था। आरासन की खान का पत्थर जाकर सर्वत्र लगता था और आज भी मकराजा आदि खानों के शिल्पियों द्वारा तैयार उपादान सारे देश में जाता आता है। समस्त भारत की सांस्कृतिक एकता का भी यह एक बड़ा सशक्त माध्यम सिद्ध हुआ है।

आर्यावर्त्त में जब भी नया नगर या गाँव बनाया जाता, दुर्ग की नींव दी जाती तो सर्व प्रथम जिनालयादि पूज्य स्थानों की नींव भी राजाओं, मंत्रियों या सेठ साहूकारों द्वारा अवश्य दी जाती थी। यहीं कारण था कि वे धर्मप्राण शासक और प्रजा जिनालय की रक्षा और

सेवा में दत्त-चित्त रहते थे। जैनागमों से प्रमाणिक है कि वैशाली नगरी तब तक अजेय और अभंग रही थी जब तक कि तब स्थित मुनिसुब्रत भगवान् के स्तूप को वहाँ से नहीं हटा दिया गया। आशातना होने पर देव-अधिष्ठाता देव भी प्रमादी हो जाते हैं और वहाँ से पलायन कर जाते हैं। साचौर के महावीर जिनालय की तीन-तीन बार म्लेच्छोपद्रवादी से रक्षा होने के वर्णन महाकवि धनपाल के महावीरोत्साह और जैनाचार्य जिनप्रभसूरि कृत विविध तीर्थकल्प में दिए हैं।

सुरक्षा की दृष्टि से प्राचीन काल में पहाड़ों पर दुर्ग बनाने की प्रथा थी। राजस्थान में भी चित्तौड़, स्वर्णगिरि-जालोर, कुंभलमेर, रणथंभौर, मण्डोवर, जोधपुर आदि की भाँति जैसलमेर का दुर्ग भी सं. 1212 में 959 फुट ऊँचे त्रिभुजाकार पर्वत पर बना और इसके बुर्जों की संख्या 99 है। नीचे पर्वत को ढकने के लिए जैन समाज द्वारा घाघरानुमा पत्थरों से जड़ाया हुआ है। निकटवर्त्ती लौद्रवपुर पत्तन की प्रजा यहाँ आकर बसी और वह शनैः शनैः एक दम वीरान हो गया। सुदूर विकमपुर, लवणखेटक, संखवाली आदि अनेक नगरों के लोग भी यहाँ आकर बस गये। दोनों ओर पहाड़ियों के बीच जैसलमेर नगर आबाद हो गया, दुर्गपर भी बहुत से घरों की बस्ती हुई और राजप्रासादों के साथ-साथ कलापूर्ण जिनालयों का भी निर्माण हुआ। यहाँ का स्वर्णाभ सचिक्कन पाषाण बारीक कोरणी के लिए अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुआ। कलाकारों ने बाहर से आकर अपने अद्‌भुत शिल्प कौशल का परिचय देना प्रारंभ किया। प्रासादों के गवाक्ष, जालियाँ और तोरण एक दूसरे के प्रतिस्पर्द्धा में सूक्ष्म से सूक्ष्म कोरे जाने लगे, असली राजस्थानी शिल्प और तक्षणकला के प्रतीक जैसलमेर की स्वर्णिम नगरी दर्शकों के लिए आश्चर्यकारी हो गई।

जैसलमेर के जिनालयों में सर्वप्रथम कौन-सा और कब निर्माण हुआ था, यह जानने के लिए हमें प्राचीन साहित्य का आधार लेना पड़ेगा। क्योंकि वर्त्तमान मन्दिरों का निर्माण अल्लाउद्दीन खिलजी की

ध्वंशलीला के पश्चात् पन्द्रहवीं शताब्दी में होना शिलालेखादि से प्रमाणित है। जबकि ग्रन्थ प्रशस्तियों से सिद्ध होता है कि आचार्य श्रीजिनप्रतिसूरिजी के परमभक्त सेठ क्षेमंधर के पुत्र जगद्धर[1] ने यहाँ पार्श्वनाथ जिनालय का निर्माण कराया था। आचार्यश्री जिनपतिसूरिजी महाराज सं. 1260 में जैसलमेर पधारे उस समय यहाँ देवगृह बना हुआ था जिसमें फाल्गुन शुक्ल 2 के दिन उन्होंने श्री पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा स्थापित की। यह प्रतिष्ठा स्थापना का महोत्सव सेठ जगद्धर ने बड़े समारोह पूर्वक किया था।

सं. 1321 में श्री जिनेश्वरसूरिजी (द्वितीय) ने जैसलमेर में सा. जसोधवल कारित देवगृह के शिखर पर मिती ज्येष्ठ शुक्ल 12 के दिन पार्श्वनाथ भगवान की स्थापना व ध्वज दण्डारोपण किया था। इसी प्रकार सं. 1323 में ज्येष्ठ सुदी 10 के दिन जावालिपुर में जैसलमेर के विधिचैत्य पर आरोपण करने के लिए सा. नेमिकुमार सा. गणदेव के बनवाये हुए स्वर्णमय दण्ड-कलश की प्रतिष्ठा हुई थी। ये दोनों भ्राता यशोधवल के वंशज (आवश्यक लघु वृत्ति प्रशस्ति पृ. 38) थे। सं. 1325 में वैशाख सुदी 14 के दिन स्वर्णमय दण्डकलशादि का आरोपणोत्सव सविशेष विस्तार पूर्वक हुआ था। युगप्रधानाचार्य गुर्वावली से ज्ञात होता है कि उस समय जैसलमेर मरूस्थल के जनपदों में मुख्य महादुर्ग था। श्री जिनप्रबोधसूरि जी महाराज सं. 1340 के फाल्गुन में यहाँ पधारे तब महाराज कर्णदेव ने सामने आकर स्वागत किया और आग्रह पूर्वक चातुर्मास भी वहीं कराया। दादा श्री जिनकुशलसूरिजी ने सिन्धुदेश विहार के समय जैसलमेर पधारकर स्वहस्तकमलों से प्रतिष्ठित श्री पार्श्वनाथ भगवान् को वन्दन किया।

---

1. तस्मिन् साधु जगद्धरः समजनि क्षेमंधराङ्गोद्भवः।
श्री पार्श्वस्य निकेतनं क्षितिगतः स्वतःसद्म सद्म भूमम्।।
सर्वाङ्गीण परिष्कृतीश्च वसुना स्वीयेन योऽचीकरन्
मध्ये जैसलमेर चित्र मथवा किं तादृशां दुष्करम्।।2।।
आवश्यक लघु वृत्ति प्रशस्ति क्रमांक (114)

उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा जैसलमेर बसने के पश्चात् वर्त्तमान मन्दिरों के निर्माण से पूर्व वहाँ श्री पार्श्वनाथ स्वामी के स्वर्ण-दण्ड-कलशयुक्त सौध-शिखरी जिनालय होना सिद्ध होता है। ये किस स्थान पर थे यह जानने के लिए अभी तक हमारे पास कोई साधन नहीं है परन्तु प्राचीन क्षतिग्रस्त जिनालय स्थान पर निर्मित वर्त्तमान जिनालयों के होने का सहज अनुमान किया जा सकता है। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शतीं में जैसलमेर की जाहोजलाली अपने पूर्ण मध्याह्न में थी और उसी समय जैसलमेर दुर्ग पर विश्व विख्यात कलापूर्ण जिन मन्दिरों का इतिहास जानने के लिए मन्दिरों के शिलालेख-प्रशस्ति, प्रतिमालेख और चैत्य परिपाटी स्तवनादि से बड़ी सहायता मिलती है। लगभग अर्द्धशताब्दी पूर्व इतिहास पुरातत्त्ववेत्ता स्वनामंधन्य श्री पूरणचंद्र जी नाहर ने जैसलमेर के 479 लेख अपने जैनलेख संग्रह के तृतीय खण्ड में प्रकाशित किये थे। उस ग्रन्थ में मैंने कविवर समय सुन्दर जी कृत दो ऐतिहासिक स्तवन भी प्रकाशित करवाये थे। इसके पश्चात् आज से सैंतीस वर्ष पूर्व हमने इन अभिलेखों को मिलाकर संशोधित किए और 271 अप्रकाशित लेख अपने बीकानेर जैन लेख संग्रह में प्रकाशित किये थे। जैसलमेर के जिनालयों में हजारों जिन प्रतिमाएँ है, पर अधिकांश पाषाणमय प्रतिमाओं के लेख पृष्ठ भाग में उत्कीर्णित हैं जो पच्ची में दब गये हैं, इन्हें पढ़कर प्रकाशित करना बहुत ही दुरूह है अतः सम्पूर्ण लेखों का संग्रह कार्य महत्वपूर्ण होने पर भी कठिन अवश्य है।

जैसलमेर में सर्व प्रथम पार्श्वनाथ जिनालय के निर्माता सेठ जगद्धर का गौरवपूर्ण वंश परिचय यहाँ ताड़पत्रीय ग्रंथ प्रशस्तियों के आधार पर दिया जाता है।

ऊकेश वंश में असाढ़ सेठ महर्द्धिक और धर्मनिष्ट हुए है। वे पहले महेश्वर धर्म को मानने वाले माहेश्वरी थे जो प्रतिदिन पांच सौ याचकों-पथिकों को घृत व अन्नदान करते थे। इन्होंने दम्भी व्यास की दृष्टता देखकर माहेश्वरत्व छोड़ दिया क्योंकि लघुकर्मी थे, अतः उपकेशपुर में

इन्होंने वीतराग मुनि पुङ्गवों से सम्यक्त्वरत्न प्राप्त कर आर्हत् धर्म स्वीकार कर सपरिवार श्रावक हो गए। इनके पुत्र जामुणाग और उसका पुत्र सेठ बोहित्थ हुआ। इसके पद्मदेव और बील्ह नामक दो पुत्र थे। सेठ पद्मदेव भार्या देवश्री का पुत्र सुप्रसिद्ध सेठ क्षेमंधर हुआ। पद्मदेव ने नागौर के पास कुडिलूपुर में जिनालय निर्माण कराया। क्षेमंधर ने मरुकोट दुर्ग में मणिधारी दादा श्री जिनचन्द्रसूरि जी से प्रतिबोध पाकर विधिमार्ग स्वीकार किया और सं. 1218 वैशाख सुदी 10 को धर्क्कटवंशीय पार्श्वनाग के पुत्र सेठ गोल्लक कारित चन्द्रप्रभजिनालय की प्रतिष्ठा-दण्डकलश ध्वजारोहण के समय 500 द्रम्म देकर माला ग्रहण की। इस समय वहाँ राजा सिंहबल का राज्य था।

सेठ क्षेमन्धर के दो पुत्र महेन्द्र और प्रद्युम्न इतःपूर्व दीक्षित हो चुके थे। वे चैत्यवासी परम्परा में थे। अपने पुत्र प्रद्युम्नाचार्य को सुविहितमार्ग में लाने के लिए इन्होंने सं. 1244 में आशापल्ली में श्रीजिनपतिसूरिजी के साथ शास्त्रार्थ करवाया और विधिचैत्यों की गरिमा मान्य कराई पर वे विधिमार्ग में न आए। अजयपुर के विधिचैत्य में मण्डप निर्माण हेतु सेठ क्षेमंधर ने सोलह हजार रुपये प्रदान किए और हजारों पारुत्थक (मुद्रा), व्ययकर अपने कुल के श्रेयार्थ तीर्थयात्राएं की। इनकी यशोदेवी और हंसिनी नामक दो भार्याएं थीं। यशोदेवी के पुत्र जगद्धर ने जैसलमेर में देवविमान तुल्य पार्श्वनाथ जिनालय का निर्माण कराया। इनकी स्त्री का नाम साढलही था जिसकी कोख से यशोधवल भुवनपाल और सहदेव नामक पुत्र और आसुला, हीरला दो पुत्रियाँ हुई। सेठ यशोधवल मरुस्थल कल्पद्रुम कहलाते थे, वे प्रतिदिन देशान्तरों से आये हुए श्रावकों की भोजनादि से भक्ति करते थे। दूसरे भ्राता भुवनपाल बड़े पुण्यात्मा थे। छःमास भूमिशय्या, एकासनत्व, स्नानत्याग, षडावश्यक, नवकार मंत्र स्मरण, ब्रह्मचर्य आदि अनेक नियमों के धारक थे। सं. 1288 आश्विन सुदी 10 को पालनपुर में गुरुमहाराज श्री जिनपतिसूरिजी के स्तूप-रत्न पर ध्वजा रोपण कराया। श्री भीमपल्ली में सौधशिखरी प्रासाद निर्माण

कराके श्री जिनेश्वर सूरिजी के कर कमलों से वीर प्रभु की स्थापना कराई।[1] इनकी पत्नी पुण्यिनी बड़ी पुण्यात्मा थी जिनके त्रिभुवनपाल और धीदा नामक पुत्र हुए उनके क्षेमसिंह और अभयचन्द्र हुए। अपने गुरु श्री जिनेश्वरसूरिजी की श्री संघ सेना के सेनापति बने और तीर्थयात्रा द्वारा अपने कुल पर अपने नाम का कलश चढ़ाया। उदारचेता भुवनपाल ने प्रत्येकबुद्धचरित्र लिखवाकर श्री जिनेश्वरसूरि को समर्पित किया। अभयचन्द्र की भार्या लक्ष्मिणी और धींधा, जगसिंह, तेजा नामक पुत्र और पद्मिनी व कुमरिका पुत्रियाँ एवं साचा आदि पौत्र-प्रपौत्र हुए। सेठ जगद्धर द्वारा श्रीमाल नगर में समवशरण प्रतिष्ठा व शांतिनाथ स्थापना के उल्लेख मिलते हैं।

सेठ क्षेमंधर की दूसरी पत्नी हंसिनी के भीमदेव और पद्म से पुरिसड़ तीन पुत्र थे। पद्म की स्त्री जयदेवी और पुत्र का नाम साढ़ल महाश्रावक था।

उपर्युक्त इतिवृत जैसलमेर में सर्व प्रथम देव-विमान के सदृश पार्श्वनाथ जिनालय निर्माण कराने वालों का है जो जैसलमेर भंडार के

---

1. यह प्रतिष्ठा सं. 1317 में बैशाख सुदी 10 को हुई थी। श्री अभवतिलक गणि अपने महावीर रास में लिखते हैं कि भुवनपाल ने यह सौध शिखरी जिनालय राय मण्डलीक के आदेश से निर्माण कराया और मंडलिक विहार नामक मंदिर बनवाकर पिता जगद्धर साह के कुल में कलश चढ़ाया।
भीमपल्लीपुरि विहि भुयणि अनु संठिउ वीर जिणंदो
तसु उवरि भुयणु उत्तंग वर तोरणं मंडलिय राय आएसि अइसोहणं
साहुणा भुयणपालेण कारावियं, जगधरह साहु कुलि कलसु चाडावियं।।6
हेम-धय-दंड-लकसो तहि कारिओ, पहु-जिणेसरसुगुरूपासिपइठाविओ।
विक्कमे वरिसि तेरहइ सतरोतरे (1317) सेय-वइसाह-दसमीइ सुहवासरे 7
इसी वंश में सा. वीरदेव बड़े नामांकित व्यक्ति हुए जिनके द्वारा सं. 1381 में श्री जिनकुशलसूरिजी के सान्निध्य में शंत्रुजयादि तीर्थों का संघ निकालने का विशद वर्णन मिलता है। उसके भाई सा. मालदेव व हुलमसिंह धनपाल सामल के नाम भी पूर्वजों के रूप में आये है। सं. 1377 में श्री जिनकुशलसूरिजी के पट्टाभिषेक के समय भी वीरदेव पत्तन में उपस्थित हुए थे इन्हें भीमपल्ली के मुकुट—मणि साधुराज सामल के पुत्र लिखा है।

कई ताड़पत्रीय ग्रन्थों की प्रशस्तियों व युगप्रधानाचार्य-गुर्वावली के आधार से लिखा है। इस समय न तो उस मन्दिर का पता है न कोई शिलालेख प्रशस्ति आदि भी उपलब्ध है। जिनालय निर्माता का गोत्र भी कहीं नहीं लिखा है अतः अवश्य अन्वेषणीय है। वर्त्तमान में जो सर्वप्राचीन कलापूर्ण और मुख्य जिनालय श्री पार्श्वनाथ स्वामी का है वह खिलजी काल में मुसलमानों के अधिकार में जब जैसलमेर था और ध्वस्त किए हुए जिनालय के स्थान में ही बना अथवा अन्यत्र यह पता नहीं क्योंकि वर्तमान जिनालय रांका सेठ परिवार द्वारा निर्मापित है जिसकी विस्तृत प्रशस्ति में जो व्श परंपरा दी है उससे निम्न वंशवृक्ष बनता है—

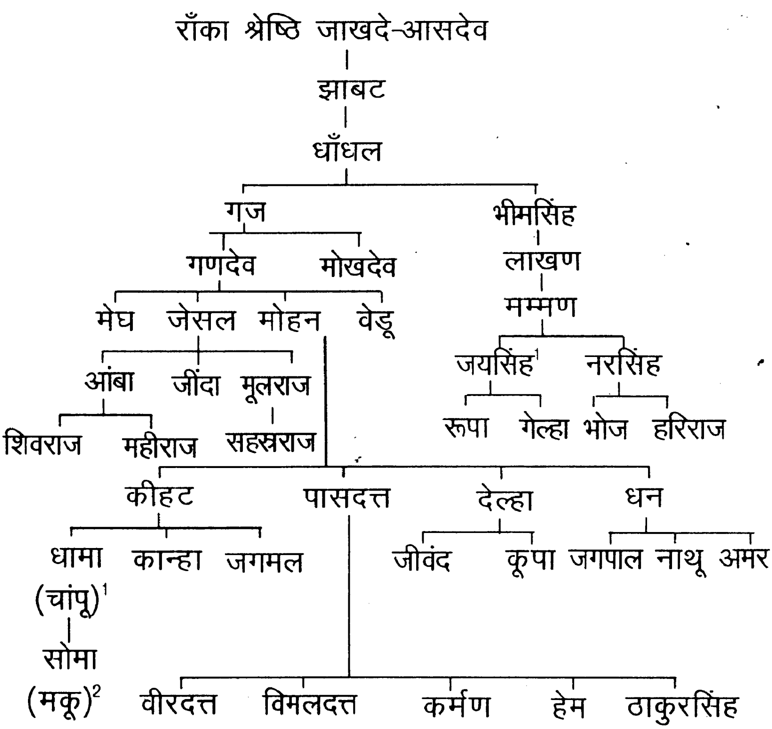

1. पार्श्वनाथ जिनालय की देवगृहिका में सं. 1493 का इनका लेख है (बीकानेर जैन लेख संग्रह लेखांख 2620)
2. लेखांक 2160 में ये नाम सं. 1513 के लेख में है।

इस प्रशस्ति में जेसल के पुत्र आंबा द्वारा सं. 1425 में विस्तार से देरावर तीर्थयात्रा व सं. 1427 श्री जिनोदयसूरि के द्वारा प्रतिष्ठोत्सव कराने का तथा सं. 1436 में तीर्थयात्री संघ निकालने का तथा मोहन के पुत्र कीहट द्वारा सं. 1449 में शत्रुंजय-गिरनारतीर्थ संघ यात्रा निकालने का उल्लेख है। नाहरजी के लेखांक 2331 में जगपाल की स्त्री का नाम नायकदे लिखा है और सं. 1511 में उसके पुण्यार्थ शांतिनाथ बिम्ब बनवाकर श्री जिनभद्रसूरिजी द्वारा प्रतिष्ठित कराने का उल्लेख हैं।

सं. 1260 में जिनपतिसूरिजी ने, सं. 1321 में जिनेश्वरसूरिजी ने जेसलमेर में पार्श्वनाथ स्वामी को प्रतिष्ठित किया जिसका उल्लेख ऊपर आ गया है। श्री जिनकुशलसूरिजी ने भी सं. 1383 में स्वहस्त प्रतिष्ठित पार्श्वनाथ भगवान को वन्दन किया। श्री जिनकुशलसूरिजी का आचार्य पद सं. 1377 में हुआ था अतः इसी बीच कभी प्रतिष्ठा की होगी इसके बाद जैसलमेर पार्श्वनाथ प्रशस्ति नं. 1 की 16वीं पंक्ति में सं. 1459 में श्री जिनराजसूरि के निर्देश से सागरचन्द्रसूरि ने गर्भगृह में बिम्ब स्थापना की लिखा है और सं. 1473 में प्रासाद पूर्ण होकर श्रीजिनवर्द्धनसूरि द्वारा प्रतिष्ठित होने का उल्लेख जयसागरोपाध्याय ने प्रशस्तियों में किया है।

(साभार कुशलनिर्देश)

क्रमशः

कुवलय माला

श्री केवल मुनि

अब दोनों साथ-साथ भटकने लगे। उन्हें एक अन्य पुरुष दिखाई दिया। उन्होंने पूछा—

अरे भाई! तुम कौन हो? कहाँ से आये हो?

उस पुरुष ने बताया—

लंकापुरी जाते हुए मेरा वाहन टूट गया और एक पाटिये के सहारे यहाँ आ पहुँचा।

तीनों ही एक से थे। परिस्थितियाँ भी समान थी। तीन सुख-दुःख के साथ बन गये। मिलकर एक झोंपड़ी खड़ी की और वहीं रहने लगे। एक बहुत ऊँचे वृक्ष पर श्वेत कपड़ा बाँधकर ध्वजा फहराई जिससे कोई आता-जाता वाहन देख ले और उन्हें वहाँ से निकाल ले जाए। बहुत तलाश करने पर उन्हें एक आम का वृक्ष मिल गया। तीनों इस आशा से रहने लगे कि कुछ समय बाद फल पक जायेंगे और उन्हें खाकर तृप्ति प्राप्त करेंगे।

कुछ समय पश्चात् एक वाहन उधर से निकला। ध्वजा देखकर वाहनपति ने वाहन रुकवाया। द्वीप में आकर उन तीनों को देखकर बोला—

आओ भाइयो! मेरे साथ चलो और अपने घर पहुँचकर सुख से रहो। यहाँ तो दुःख और कष्ट ही है।

पहले पुरुष ने उत्तर दिया—

यहाँ मुझे तो कोई दुःख नहीं है। रहने को झोपड़ी है और सोने को लम्बी-चौड़ी जमीन। बिल्कुल शुद्ध हवा आती है। देखों कैसा

नीरोग और हृष्ट-पुष्ट हूँ मैं। बड़े चैन से समय गुजर रहा है। मैं तो तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगा।

दूसरे ने उत्तर दिया—

दुःख तो बहुत है यहाँ, किन्तु मैंने जो इतने परिश्रम से यह झोपड़ी बनाई है, वृक्ष लगाया है और अब तो इस पर फल भी आने लगे हैं। यदि मैं चला गया तो सब उजड़ जायेगा। नहीं भाई, मैं तुम्हारे साथ नहीं चल सकता।

दोनों पुरुषों का स्पष्ट इन्कार सुनकर उसने धन से चलने को कहा तो वह तुरन्त तैयार हो गया। वाहन में बैठकर धन अपने घर आ गया और सुखपूर्वक रहने लगा।

यह दृष्टान्त सुनाकर आचार्यश्री ने इसका भावार्थ बताया—

सागर यह संसार है और लहरों का उठना-गिरना जन्म-मरण। कुडंग द्वीप मनुष्य जन्म है। इसमें मनुष्यों की तीन प्रकार की प्रवृत्ति है। एक तो अपने मूल धन (पुण्य रूपी धन जिससे मनुष्य जन्म मिला है) को भी खो देता है, दूसरा मूल धन की रक्षा मात्र करता है और तीसरा उसे बढ़ाता है। नाविक के समान सद्गुरु है जो उसको सन्मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं। उस द्वीप से निकलकर वाहन पर चढ़ना दीक्षा है और घर पहुँचकर सुख पाना सिद्ध गति प्राप्त करना है।

राजा ने मन ही मन विचार किया— **मैंने व्यर्थ ही इन पर शंका की। इनका चरित्र तो बिलकुल निर्मल है—भीतर बाहर दोनों ओर से बिलकुल पवित्र।**

यह विचार कर राजा चला आया। दूसरे दिन मंत्री वासव को साथ लेकर पुनः गुरुदेव के चरणों में पहुँचा और बोला—

गुरुदेव! मैं स्वयं को संयम पालने में तो असमर्थ पाता हूँ मेरे उद्धार का कोई अन्य उपाय बताइये।

आचार्यश्री ने बताया—

कौशांबी नरेश! धर्म दो प्रकार का है— पहला श्रमणधर्म और दूसरा गृहस्थधर्म। इनमें पालने वाले की शक्ति और सामर्थ्य का भेद है। जो उच्च परिणामी होते है वे सम्पूर्ण संयम पालन करते है और जो गृहस्थ जीवन को नहीं छोड़ पाते वे गृहस्थधर्म का पालन करते हैं। जो व्रत मुनि पूर्णरूप से पालन करते हैं, उन मूल व्रतों का पालन गृहस्थ आंशिक रूप से करते हैं।

इसके बाद राजा की जिज्ञासा पर आचार्यश्री ने गृहस्थ के बारह व्रतों का स्वरूप समझाया। राजा ने श्रद्धा सहित व्रत अंगीकार कर लिए।

आचार्यश्री अपने शिष्य परिवार सहित अन्यत्र विहार कर गए। पाँचों नव दीक्षित मुनि भी इनके साथ थे। वे श्रमणधर्म का पालन करते और गुरु सेवा में सदैव तत्पर रहते। इस प्रकार सूत्रों का अभ्यास और संयम-पालन करते हुए बहुत काल व्यतीत हो गया तो एक दिन उनके मन में विचार उठा। वे परस्पर बातचीत करने लगे। एक ने कहा—

मनुष्य जन्म ही दुर्लभ है तो फिर यह जिनधर्म की प्राप्ति और भी दुर्लभ। दूसरे भव में भी हम जिनधर्मानुयायी बनें, ऐसा उपाय सोचना चाहिए।

दूसरे ने उत्तर दिया—

एक दिन का भी संयम देव गति का कारण होता है तो फिर....

तीसरे ने बात काटी—

वहाँ से च्यवकर भी तो मनुष्य जन्म धारण करना पड़ेगा। यदि वहाँ मिथ्यात्वी हो गए तो...........जिनधर्म का सुयोग न मिला तो.......

चंडसोम मुनि ने कहा—

यदि ऐसा होगा तो मैं तुम चारों को जिनधर्म की ओर प्रेरित करूँगा।

बाकी चारों ने भी ऐसा ही आश्वासन दिया। आश्वस्त होकर वे पाँचों ज्ञान दर्शन चारित्र रत्नत्रय की आराधना करने लगे।

सबसे पहले आयुष्य पूर्ण हुआ मुनि लोभदेव का। संथारा पूर्वक देह विसर्जन की और प्रथम स्वर्ग सौधर्म देवलोक में पद्मप्रभ देव बने। मानभट्ट मुनि ने उसके पश्चात् देह त्याग किया और मोहदत्त मुनि भी क्रमशः पद्मवर, पद्मचन्द्र और पद्मकेसर नाम के देव बने। पाँचों ही महर्द्धिक देव थे। स्वर्गों के दिव्य और अमित सुख भोगते थे। उनमें पूर्वजन्म के सम्बन्ध के कारण अतिशय प्रीति थी।

मूषक-मुक्ति :

पद्मप्रभु, पद्मसार, पद्मवर, पद्मचन्द्र और पद्मकेसर—पाँचों देवों का समय सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था। एक दिन अचानक ही देव-दुन्दुभि का शब्द होने लगा। सौधर्म देवलोक और सौधर्म सभा के शाश्वत घण्टे बजने लगे। पाँचों ने अवधिज्ञान से उपयोग लगाया तो ज्ञात हुआ कि पन्द्रहवें तीर्थंकर भगवान धर्मनाथ को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। पाँचों ने वहीं से भगवान को सिर झुकाया और भाव वन्दना की। तुरन्त ही चल दिये भरतक्षेत्र की ओर। सौधर्म इन्द्र भी सदल-बल चला जा रहा था। उसके पास आकर पद्मसार देव न कहा—

आपकी आज्ञा हो तो मैं अकेला ही भगवान के समवसरण की रचना करूँ।

देव पद्मसार का उत्साह और उमंग देखकर देवराज ने आज्ञा दे दी। पद्मसार ने दत्तचित्त होकर समवसरण की रचना की। रचना करते-करते वह भाव विभार हो गया। एक योजन भूमि को तृण आदि से साफ करके निर्मल सुगन्धित जल छिड़का, फिर तीन गढ़ बनाए और परिषदों, सभाओं आदि को बनाकर मध्य भाग में अशोक वृक्ष के नीचे प्रभु के विराजने योग्य मणिजटिल सिंहासन की रचना की। तीर्थंकर प्रभु ने समवसरण में प्रवेश किया और अपने लिये नियत स्थान

पर जा विराजे। प्रभु के मस्तक के ऊपर लगे हुए तीन छत्र उनके त्रैलोक्य पूजित रूप को सत्कार कर रहे थे। संपूर्ण समवसरण देव, असुर, मानव, पशु, पक्षी आदि से खचाखच भरा था देवराज इन्द्र भी अपने नियत स्थान पर बैठे थे और पाँचों देव भी।

प्रभु ने मंगलकारी देशना दी। उनके अमृत-वचनों को सुनकर सभी धन्य हो गये। देशना के अनन्तर गणधर ने अंजलि बाँधकर पूछा-

भगवन्! देव, मनुष्य और पशुओं से आपूरित इस समवसरण में सबसे पहले कौन जीव कर्मक्षय करके मुक्त होगा?

तुम्हारे पीछे जो पीले रंग का चूहा (मूषक) आ रहा है। वहीं सबसे पहले मुक्त होगा।— भगवान ने धीर गम्भीर स्वर में बताया।

संपूर्ण परिषद की आँखें चूहे की ओर घूम गई, किन्तु वह सहमा नहीं, निर्भयतापूर्वक चलता रहा। उसका मुख हर्ष से चमक रहा था, सम्पूर्ण अंग में उत्साह और उमंग छाया हुआ था और नेत्र हर्ष के आँसुओं से आपूरित थे। चूहे ने प्रभु को नमन करके अपनी भाषा में कुछं कहा।

चूहे के इस व्यवहार से परिषद् चकित हो गई। इन्द्र ने जिज्ञासा प्रकट की—

हे सर्वज्ञ प्रभो! यह तो जंगली चूहा है और वह भी अधम जाति का। सबसे पहले यही मुक्त होगा। यह जानकर मुझे कुतूहल हो रहा है।

भगवान ने फरमाया—

कुतूहल की आवश्यकता नहीं देवराज! जीव के परिणाम बड़े विचित्र होते हैं। अधम जाति के कहलाने वाले जीव भी कर्म क्षय करें तो उत्तमोत्तम शिव सुख प्राप्त करते हैं और उच्च जाति के कहलाने वाले जीव भी पापकर्मों से नरक-दुख भोगते हैं। इसका पूर्वभव सुनो-

विध्याचल पर्वत के अन्तराल में विध्यवास नामका एक सन्निवेश है। उसपर अनार्य राजा महेन्द्र राज्य करता था। उसकी रानी का नाम

था तारा और पुत्र का नाम ताराचन्द। अभी ताराचन्द आठ वर्ष का ही था कि कोशल के राजा ने सन्निवेश पर आक्रमण कर दिया। राजा महेन्द्र युद्ध में जूझ मरा। निराश्रित रानी तारा अपने आठवर्षीय पुत्र को लेकर वहाँ से निकल भागी। वह भड़ौंच नगर पहुंची। नगर में उसकी जान-पहिचान का कोई न था अशुभ कर्मों के उदय के कारण उसे कहीं आश्रय न मिला। भूख प्यास से व्याकुल रानी तारा अपने पुत्र की अंगुली पकड़े इधर-उधर भटकने लगीं। तभी राज मार्ग पर उसे दो साध्वियों के दर्शन हुए। साध्वियाँ गोचरी हेतु निकली थी।

रानी को साध्वियों के दर्शन से बड़ा सुख हुआ। उसने सोचा- मेरे पीहर (माँ-बाप के घर) में तो इनकी मान्यता थी ही। अब मैं इन्हीं की शरण लूँ तो उद्धार हो। यह सोच उसने भक्तिपूर्वक साध्वियों को नमन किया और मांगलिक शब्द सुने। रानी अब उनके पीछे-पीछे चलने लगी। साध्वीजी ने पूछा—

कहाँ से आ रही हो?

विध्यपुरी से।

किसकी मेहमान हो?

रानी की आँखों में आँसू भर आए। कठिनाई से कह सकी—

किसी की नहीं।

साध्वियों को उसकी दशा पर दया आ गई।

साध्वियों के पीछे-पीछे चलती हुई रानी तारा अपने पुत्र के साथ उपाश्रय पहुँची। उसने प्रवर्तिनी को नमन किया और एक ओर विनम्र भाव से बैठ गई।

प्रवर्तिनी ने देखा कि स्त्री किसी ऊँचे घर की है। उसके रूप को देखकर उन्होंने समझ लिया कि यह कोई राज-पत्नी है। स्नेह सिक्त स्वर में पूछा—

कौन हो? अपना पूरा परिचय दो।

रानी ने आद्योपान्त पूरी घटना सुना दी। प्रवर्तिनी ने दोनों माँ-बेटों को शय्यातर को सौंप दिया। शय्यातर ने उनकी उचित देख-भाल की ओर वे दोनों वहीं रहने लगे। कुछ दिन बात प्रवर्तिनी ने रानी तारा से पूछा—

अब तुम्हारा क्या विचार है? क्यो करोगी?

करने को अब रह ही क्या गया है? पति की मृत्यु हो चुकी, नगरी का विनाश हो गया। इस जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाना चाहती हूँ किन्तु पुत्र की चिन्ता है।

यदि तुम्हारा यही निश्चय है तो पुत्र को आचार्य महाराज को सौंपकर स्वयं दीक्षा अंगीकार करो।

तारा रानी ने यह स्वीकार कर लिया। पुत्र को तीर्थंकर अनन्तनाथ की परंपरा के आचार्य सुनन्द को सौंपा और स्वयं दीक्षित हो गई। वह साध्वी संघ के साथ विचरण करने लगी और ताराचन्द मुनि बन आचार्यश्री के साथ।

युवा होने पर ताराचन्द की प्रवृत्ति बदलने लगी। उसे नाटक आदि में रस आने लगा। कभी नाट्य मण्डली को देखता रह जाता तो कभी किसी कुतूहलवर्धक दृश्य को। वह स्वच्छन्द रहना चाहता था। गुरुदेव ने कई बार समझाया किन्तु उस पर कोई असर न हुआ। वह साध्वाचार में शिथिल हो गया।

एक दिन आचार्यश्री संघ सहित बन मार्ग से गुजर रहे थे कि मुनि ताराचन्द की दृष्टि कुछ जंगली चूहों पर पड़ी। चूहे स्वच्छन्द विचरण करते हुए क्रीड़ा कर रहे थे। उसके मन में विचार आया मुझसे तो ये चूहे ही अच्छे है। स्वच्छन्द घूमते है, न कोई रोकने वाला और न कोई बाधा। मैं मनुष्य होकर भी बन्धन में हूँ। एक साधु कहता है यह

काम करो, तो दूसरा कोई और काम बता देता है। तरह तरह के बन्धन है मुझपर— विनय करो, प्रायश्चित करो, वन्दन करो, प्रतिक्रमण करो, यह खाओ, यह मत खाओ। इससे तो मैं चूहा बन जाऊँ तो स्वच्छन्द तब भी रहूँ।

मुनि ताराचन्द ने निदान कर लिया। इस निदान की आलोचना किये बिना ही आयुष्य पूर्ण करके ज्योतिषी देव बना और वहाँ से च्यव कर चूहा बना। इसके निवास के समीप ही समवसरण की रचना हुई तो पुष्पों की सुगन्धि से आकर्षित होकर यहाँ चला आया। मुझे देखते ही जातिस्मरण ज्ञान हो गया और अब यह अपनी भाषा में मुझ से उद्धार मार्ग पूछ रहा है।

प्रभु इतना कहकर मौन हो गए। तब गणधर ने पूछा—

प्रभु! सम्यक्त्वी जीव तो तिर्यंच गति का बंध करता ही नहीं, फिर इसने कैसे किया?

देव भव में इसका प्राप्त हुआ सम्यक्त्व भी छूट गया था और मिथ्यात्वदशा में इसने तिर्यंच गति का बंध किया था।

क्रमशः

With best compliments

arcadia shipping limited

222, Tulsiani Chambers, Nariman Point,
Mumbai-400 021
Tel : +91 22 6658 0300 / Fax : +91 22 2287 2664
Email : arcadiashipping@vsnl.com

Ship Owners, Ship Managers

JAIN BHAWAN PUBLICATIONS

P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone: 2268 2655

English :

1. Bhagavati-sutra-Text edited with English translation by K. C. Lalwani in 4 volumes:
   - Vol - 1 (satakas 1-2) Price : Rs. 150.00
   - Vol - 2 (satakas 3-6) 150.00
   - Vol - 3 (satakas 7-8) 150.00
   - Vol - 4 (satakas 9-11) ISBN: 978-81-922334-0-6 150.00
2. James Burges - The Temples of Satrunjaya. Jain Bhawan. Kolkata ; 1977. pp. x+82 with 45 plates Price : Rs. 100.00 (It is the glorification of the sacred mountain Satrunjaya.)
3. P. C. Samsukha - Essence of Jainism Price : Rs. 15.00 ISBN: 978-81-922334-4-4
4. Ganesh Lalwani - Thus Sayeth Our Lord, Price : Rs. 15.00 ISBN: 978-81-922334-7-5
5. Verses from Cidananda Translated by Ganesh Lalwani Price : Rs. 15.00
6. Ganesh Lalwani - Jainthology Price : Rs. 100.00 ISBN: 978-81-922334-2-0
7. Lalwani and S. R. Banerjee- Weber's Sacred Literature of the Jains Price : Rs. 100.00 ISBN: 978-81-922334-3-7
8. Prof. S. R. Banerjee Jainism in Different States of India Price : Rs. 100.00 ISBN: 978-81-922334-5-1
9. Prof. S. R. Banerjee Introducing Jainism ISBN: 978-81-922334-6-8 Price : Rs. 30.00
10. Smt. Lata Bothra- The Harmony Within Price : Rs. 100.00
11. Smt. Lata Bothra- From Vardhamana- to Mahavira Price : Rs. 100.00
12. Smt. Lata Bothra- An Image of- Antiquity Price : Rs. 100.00

Hindi :

1. Ganesh Lalwani - Atimukta (2nd edn) ISBN: 978-81-922334-1-3 Translated by Shrimati Rajkumari Begani Price : Rs. 40.00
2. Ganesh Lalwani - Sraman Samskriti Ki Kavita, Translated by Shrimati Rajkumari Begani Price : Rs. 20.00
3. Ganesh Lalwani - Nilanjana, Translated by Shrimati Rajkumari Begani Price : Rs. 30.00
4. Ganesh Lalwani - Chandan-Murti Translated by Shrimati Rajkumari Begani Price : Rs. 50.00
5. Ganesh Lalwani-Vardhaman Mahavira Price : Rs. 60.00

6. Ganesh Lalwani-Barsat ki Ek Raat, Price : Rs. 45.00
7. Ganesh Lalwani -- Panchdasi. Price : Rs. 100.00
8. Rajkumari Begani-Yado ke Aine me. Price : Rs. 30.00
9. Dr. Lata Bothra - Bhagavan Mahavira Aur Prajatantra Price : Rs. 15.00
10. Dr. Lata Bothra - Sanskriti Ka Adi Shrote, Jain Dharm Price : Rs. 24.00
11. Prof. S.R. Banerjee - Prakrit Vyakarana Praveshika Price : Rs. 20.00
12. Dr. Lata Bothra - Adinath Risabdev Aur Asthapad Price : Rs. 250.00
ISBN : 978-81-922334-8-2
13. Dr. Lata Bothra - Astapad Yatra Price : Rs. 50.00
14. Dr. Lata Bothra - Aatm Darsan Price : Rs. 50.00
15. Dr. Lata Bothra - Varanbhumi Bengal
ISBN: 978-81-922334-9-9 Price : Rs. 50.00
16. Dr. Lata Bothra - Tatva Bodh Price : Rs.

Bengali :

1. Ganesh Lalwani-Atimukta, Price : Rs. 40.00
2. Ganesh Lalwani-Sraman Sanskriti ki Kavita Price : Rs. 20.00
3. Puran Chand Shymsukha-Bhagavan Mahavir O Jaina Dharma. Price : Rs. 15.00
4. Prof. Satya Ranjan Banerjee Prasnottare Jaina-Dharma Price : Rs. 20.00
5. Dr. Jagatram Bhattacharya Das Baikalik Sutra Price : Rs. 25.00
6. Prof. Satya Ranjan Banerjee Mahavir Kathamrita Price : Rs. 20.00
7. Sri Yudhishthir Majhi Sarak Sanskriti O Puruliar Purakirti Price : Rs. 20.00

Some Other Publications :

1. Dr. Lata Bothra - Vardhamana Kaise Bane Mahavir Price : Rs. 15.00
2. Dr. Lata Bothra - Kesar Kyari Me Mahakta Jain Darshan Price : Rs. 10.00
3. Dr. Lata Bothra - Bharat Me Jain Dharma Price : Rs. 100.00
4. Acharya Nanesh - Samata Darshan Aur Vyavhar (Bengali) Price : Rs.
5. Shri Suyesh Muniji - Jain Dharma Aur Shasnavali (Bengali) Price : Rs. 50.00
6. K.C.Lalwani - Sraman Bhagwan Mahavira Price : Rs. 25.00

ACHARYA SRI KAILASSAGARSURI GYANMANDIR

ऐसा विश्वास दिल में जमाते चलो
सिद्ध, अरिहन्त को मन में रमाते चलो,
वक्त आयेगा ऐसा कभी न कभी
सिद्धि पायेंगे हम भी कभी न कभी।

KUSUM CHANACHUR

Founder : Late. Sikhar Chand Churoria

Our Quality Product of :

- Anusandhan
- Kolkata Nasta
- Badsha Khan
- Picnic
- Raja
- Shubham
- Bhaonagari Ghantia
- Jocker
- Lajawab
- Papri Ghantia
- Rim Jhim
- Tinku

MANUFACTURED BY

M/s. K. K. Food Product
Prop. Anil Kumar, Sunil Kumar Churoria
P. O. Azimganj, Dist: Murshidabad
Pin No.- 742122, West Bengal
Phone No.: 03483-253232,
Fax No.: 03483-253566

KOLKATA ADDRESS:

36, Maharshi Debendra Road, 3rd Floor Room No.- 308
Kolkata - 700 006, Phone No.: 2259-6990, 3293-2081
Fax No.: 033-2259-6989, (M) 9434060429, 9830423668

TITTHAYARA
Vol XXXVI No.05
25th August 2012

Registered
No. KOL.RMS / 070/2010-12
R.N.I. 30181/77

Creators of Prestigious Interiors
Established 1970

Creativity is a Modern Religion

Nahar

Architects . Interiors . Consultants

5B, Indian Mirror Street, Kolkata-700013
Phone No.-2227 5240/45, Fax :22276356
Email Id:info@nahardecor.com